Journal for Re Attach Therapy and Developmental Diversities
eISSN: 2589-7799
2023 December; 6 (8s): 1084-1085

हिन्दी साहित्य और पर्यावरणीय संवेदना

– प्रो. मीना शर्मा ’

आदिम युग से ही मनुष्य और प्रकृति का रिश्ता चोली–दामन का रहा है। वह प्रकृति से ही पैदा हुआ है और प्रकृति का ही सर्वोत्तम विकास है। मनुष्य के माध्यम से प्रकृति स्वयं को ही व्यक्त करती है। मनुष्य और सभ्यता का विकास भी प्रकृति के गोद में बैठकर हुआ है। प्रकृति से संघर्ष, प्रकृति का अनुकूलन और फिर प्रकृति से ही प्रेम मानव जाति के समस्त इतिहास का विराट सत्य और निष्कर्ष है। अंतःप्रकृति और बाह्यप्रकृति, मानव–प्रकृति और मानवेत्तर प्रकृति की परस्परता में ही सृष्टि का सौंदर्यमूलक आधार रहा है। तो फिर मनुष्य की भाँति साहित्य प्रकृति से अछूता कैसे रह सकता है? जिस प्रकार मानव शरीर प्रकृति से अलग नहीं हो सकता, उसी प्रकार साहित्य भी प्रकृति से मुक्त नहीं हो सकता। प्राकृतिक एवं पर्यावरणीय संवेदना ही मानवीय एवं साहित्यिक संवेदना को निर्मित करते हैं। साहित्यिक उपमान, प्रतीक बिम्ब, रूप आदि सभी कुछ प्रकृति से ही लिए जाते हैं। कहते हैं कि रोमैंटिसिज़्म के दौर में कविता कहने की प्रेरे णा कवियों को प्रकृति से मिली थी। उनके प्रकृति–प्रेम से ही देश–प्रेम की भावना उत्पन्न हुई; प्रथम रश्मि के आगमन की सूचना ने ही उसे भावप्रकाशन के एक नये मार्ग की ओर अग्रसर किया। सामाजिक और राष्ट्रीय पराधीनता के दौर में व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन दोनों को आगे बढ़ाया। छायावादी काव्य सौंदर्य का एक बड़ा कारण साहित्यिक संवेदना और पर्यावरणीय संवेदना के बेजोड़ संतुलन एवं व्यापक सर्जनात्मक प्रयोग ही है। कविगुरू रविन्द्रनाथ टैगोर के चित्रों की विराटता का रहस्य भी प्रकृति की विराटता के बोध का साक्षात्कार ही है। कला समेत जीवन के सभी क्षेत्रों में संकीर्णता पर प्रहार करते हुए छायावादी काव्य–यात्रा लघुता से विराटता की ओर बढ़ती है। जो आगे चलकर प्रगतिवाद के दौर में किसान और मजदूरों के गाय–बैल और खेत–खलिहान, धूल–मिट्टी, हवा–पानी, बादल–राग के रूप में मानवीय व साहित्यिक संवेदना की युगलबन्दी पर्यावरणीय संवेदना के साथ दिखलाई पड़ती है। कविता का कैनवास और कवियों के वक्षस्थल को इतना विशाल बनाया गया जिसमें सभी प्राकृतिक पदार्थों के लिए जगह हो। इस तरह हमें प्रकृति और साहित्य के बीच एक अटूट एवं प्रगाढ़ संबंध उन बड़े काव्यांदोलनों की सफलता के पीछे दिखलाई पड़ता है। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि आज प्रकृति और साहित्य के बीच का यह संबंध कुछ टूटता, कुछ बिखरता सा दिखलाई पड़ता है। मॉल, मल्टीप्लैक्स, शॉपिंग कॉम्प्लेक्स, बड़ी–बड़ी बिल्डिंगों और विकास की अंधी दौर में जहाँ बिल्डिंगें तो बड़ी होती जा रही हैं लेकिन इंसान और इंसानियत छोटी हो रही है। पर्यावरणीय संकट के साथ मनुष्य और समाज के पर्यावरण का भी संकट बढ़ा है। अंधाधुंध वृक्षों का कटना, वाहनों का लगातार बढ़ना, बेलगाम जलवायु – ध्वनि प्रदूषण, उदाहरण के लिए हम यमुना का हाल देख सकते हैं, सांस लेने के लिए स्वच्छ हवा ढूँढ़नी पड़ती है, ट्रैफिक का शोर आपको बेचैन करता रहता है। यांत्रिक संस्कृति, यांत्रिक संवेदना के साथ मनुष्य का निरंतर यंत्रवत होते जाना पर्यावरणीय संवेदना से निरंतर उसके विमुखता एवं उदासीनता का ही परिणाम है। इससे जो मनुष्य निर्मित होता है, उसकी जो संवेदना निर्मित होती है, उसे ही साहित्य निबद्ध करता है, उस मनुष्य की छवि को साहित्य के कैमरे में कैद करता है।

जल संसाधन, भूमि–संसाधन, खनिज संसाधन जैसे पर्यावरणीय मुद्दे न सिर्फ साहित्यिक संवेदना के स्वरूप को निर्धारित करते हैं बल्कि राजनीतिक संवेदना के विन्यास को भी निर्मित करते हैं जल के आभाव या सूखे की स्थिति में कई राज्यों में राजनीतिक पार्टियों की दुकानों को चलते हुए देखा जा सकता है। महाराष्ट्र में नवीनतम आए भीषण सूखे के उपर राहत व मुआवजे को लेकर हो रही राजनीति को देखा जा सकता है। सूखे के नाम पर प्च्स् के टीम मालिकों से जो विभिन्न औद्योगिक घरानों एवं फिल्मों से जुड़े हुए हैं, उनसे 500 करोड़ रूपए की वसूली की मांग की गई है अन्यथा मैच नहीं होने की धमकी दी गई है। होली खेलना जुर्म नहीं है लेकिन सूखाग्रस्त महाराष्ट्र में आसाराम बापू को होली में पानी की बर्बादी करना महंगा पड़ जाता है। उनपर कारवाई की जाती है और जुर्माना भी ठोका जाता है। मध्यप्रदेश में भी सूखे के कारण हुए 900 करोड की फसल के नुकसान पर सत्ता और विपक्ष के बीच राजनीतिक दावपेंच चल रहा हैं। तो वहीं ब्रह्मपुत्र और कोसी के प्रकोप से बाढ़ के कारण आसाम और बिहार में निरंतर तबाही की कहानी हम और तमिलनाडु के बीच कावेरी मुद्दे अक्सर सुनते हैं। तो वहीं दो राज्यों कर्नाटक पर न सुलझने वाला जल–विवाद कई बार तो चुनावी मुद्दा हो जाता है।

खनिज संसाधनों के विभाजन एवं कोशी के अभिशाप से ग्रसित बिहार द्वारा केन्द्र सरकार से विशेष राज्य के दर्जे की मांग को लेकर शक्ति–प्रदर्शन की रैली का आयोजन करते हुए अभी हाल में हमने देखा ही है। भूमि अधिग्रहण को लेकर आजकल आए दिन किसानों, बिल्डरों तथा विभिन्न सरकारों के बीच होने वाले टकरावों की गूंज सुनी जा सकती है। यमुना एक्सप्रेस वे, भट्टा–पारसौल, नोएडा–एक्स्टेंशन का विवाद हाल ही में काफी सुर्खियों में रहा है। जमीन के आसमान छूने वाले दाम एवं मुनाफे का धंधा होने के कारण बिल्डरों एवं भूमि–माफियाओं की कहानियाँ एवं कांड भी कम हैरान करने वाले नहीं होते है। पोंटी चढ़ढा मर्डर केस, गोपालकांडा के अमीरी का राज, क्स्थ–रॉबर्ट वाड्रा भूमिकांड भी राजनीति में भूचाल आनेवाले कुछ चर्चित प्रकरणों को देखा जा सकता है। उपर्युक्त तमाम मुद्दे भी पर्यावरणीय संवेदना के साथ ही साहित्यिक संवेदना की बनावट एवं बुनावट के लिए कच्ची सामग्री का काम करते हैं। गाँव और शहरों के बीच बढ़ती हुई अलंध्य खाई, सीमित संसाधनों एवं बेलगाम इच्छाओं के बीच झूलते–पीसते, आक्रोशित, अशानत एवं बैचेन मनुष्य की गाथा को आज का साहित्य कहता है। सौंदर्य का एक आधारभूत नियम है अनुपात और संतुलन। यह नियम जीवन ओर कला दोनों क्षेत्रों में चलता है। इन दोनों के सामंजस्य के आभाव में ही संवेदना का क्षरण होता है। आज का पर्यावरण संकट और मानवीय अस्तित्व एवं मूल्यहीनता के संकट की सह–उपस्थिति अकारण नहीं, महज संयोग नहीं, बल्कि एक चिन्त्य एवं विचारणीय प्रश्न है। आन्तरिक अन्विति और संतुलन का ताना–बाना टूटने से यह संकट इन दोनों ही क्षेत्रों में उपस्थित हुआ है। समाज का पर्यावरण एक अन्य रूप में भी बिगड़ा है वह है घटता हुआ स्त्री–पुरुष लिंग अनुपात, बेलगाम कन्या–भ्रूणहत्या, महिलाओं के प्रति निरंतर बढ़ते हिंसा और अपराध । स्त्रियों की असुरक्षा सामाजिक सुरक्षा के आगे प्रश्नचिह्न लगाता है। आधी आबादी की संवेदना को दर किनार कर कैसे सच्ची सामाजिक, मानवीय और साहित्यिक संवेदना को व्यक्त किया जा सकता है! यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। आखिर साहित्यिक संवेदना मानवीय संवेदना से पृथक कैसे हो सकती है। स्त्री भी तो एक प्रकृति है और साहित्यिक सरोकार भी स्त्री के इसी मानवीय सरोकार के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। हिन्दी साहित्य इन नवीन कथ्यों के आलोक में बदली हुई संवेदनात्मक उद्वेलन की गाथा लिखकर नवीन संवेदना एवं नवीन क्षितिज का विस्तार कर सकती है। अभी–अभी के हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय संवेदना का स्वरूप प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, छायावादी और कुछ हद तक समकालीन हिंदी कविता से भिन्न है। आठवें दशक के बाद विकास और प्रगति की वर्तमान अवधारणा ने अपना रंग दिखाना आरंभ किया। जल, जंगल और जमीन पर अधिकार कर उसको नष्ट कर देने के लिए होड़ मच गई। बाँध बनाये जाने लगे, पहाड़ों के सीने में विस्फोट होने लगा, जंगलों का स्थान कंक्रीट लेने लगी। ऐसी परिस्थिति में यह स्वभाविक है कि तात्कालीन साहित्यकारों ने प्रकृति को अलग रूप में चित्रित करना आरंभ किया। प्रकृति पर क्रमशः हास और विलुप्त होने का खतरा मंडराने लगा। पर्यावरण को अपूरणीय क्षति पहुँचाई गई। फलतः प्रतिरोध के स्वर उभरे। जैसा कि निर्मला पुतुल की कविता 'बेटी मुर्मू के लिए' में दर्ज है–

देखो ! अपनी बस्ती के सीमान्त पर जहाँ धराशायी हो रहे हैं पेड़। कुल्हाड़ी के सामने असहाय रोज नंगी होती बस्तियाँ एक रोज माँगेंगी तुम्हारी खामोशी का जवाब ।

विकास की इस अंधी दौड़ में किस तरह तांडव मचाया, इसकी एक बानगी देखिये, निर्मला पुतुल की ही कविता से–

उखड़ गये हैं बड़े पुराने पेड़ और कंक्रीट के पसरते जंगल में खो गई है इनकी पहचान सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से रात के सन्नाटे में अँधेरे से मुँह ढाँप क्या तुमने कभी सुना है किस कदर रोती है नदियाँ बतियाया है कभी गुमसुम बूढ़ी पृथ्वी से उसका दुःख ।

निर्मला पुतुल ही क्यों? लगभग सभी समकालीन साहित्यकारों में प्रकृति और पर्यावरण के मरण से उत्पन्न क्षोभ के यही स्वर मिलते हैं। मंगलेश डबराल की चर्चित कविता श्पहाड़ पर लालटेनश में प्रतिरोध का स्वर और भी कठोर हो जाता है–

जंगल में औरतें हैं लकड़ियों के गठ्ठर के नीचे बेहोश जंगल में बच्चे हैं

हिन्दी साहित्य और पर्यावरणीय संवेदना असमय दफनाये जाते हुए

जंगल में लगातार कुल्हाड़ियाँ चल रही हैं जंगल में सोया है रक्त। लीलाधर मंडलोई तो स्पष्ट कहते हैं कि अब कुछ भी सुरक्षित नहीं है– सुरक्षित नहीं है कुछ भी अब न जंगल, न नदी, न समुद्र, न मनुष्य । तो नवल शुक्ल लगभग कसम खाने के अंदाज में घोषणा करते हैं–

जब–जब जनम लूँगा
कुछ नहीं काटूँगा केक तो कतई नहीं
एक पेड़ लगाऊँगा। संक्षेप में लगभग सभी समकालीन साहित्यकारों की रचनाओं में पर्यावरणीय संवेदना के स्वर हैं। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि प्रकृति और आमजन के बीच का संबंध
कुछ टूटता–बिखरता सा दिखाई पड़ता है।